अध्याय –2
औपनिषदिक दर्शन

(1) उपनिषद्

भारतीय चिन्तन परम्परा में उपनिषद् आध्यात्मिक ज्ञान के प्रमुख स्त्रोत हैं। ये भारतीय ऋषि–मुनियों के दीर्घकालिक गम्भीर आध्यात्मिक चिन्तन, मनन और साधना के प्रतिफल हैं। उपनिषदों का सम्बन्ध वेदों के ज्ञानकाण्ड से है। उपनिषद् वैदिक साहित्य के अन्तिम भाग तथा सारभूत सिद्धान्तों के प्रतिपादक हैं, अतः इन्हें वेदान्त भी कहा जाता है। उपनिषद् भारतीय–दर्शन के मूल स्त्रोत है। भारतीय–दर्शन की सभी प्रमुख विचारधाराएँ उपनिषदों से सम्बन्धित है। उपनिषदों में ब्रह्म विषयक ज्ञान की विस्तृत चर्चा है, अतः इन्हें ब्रह्मविद्या भी कहते हैं। आदिगुरु शंकराचार्य ने कठोपनिषद्भाष्य की भूमिका में स्पष्ट किया है कि उपनिषद् शब्द का प्रमुख अर्थ ब्रह्मविद्या और गौण अर्थ ब्रह्मविद्या प्रतिपादक ग्रन्थ विशेष से है।

उपनिषद् शब्द 'उप' एवं 'नि' उपसर्गपूर्वक सद् धातु से बना है। उप का अर्थ है–समीप, नि का अर्थ है–निष्ठापूर्वक तथा 'सद्' का अर्थ है–बैठना। इस प्रकार शाब्दिक व्युत्पत्ति की दृष्टि से उपनिषद् का अर्थ है–शिष्य का गुरु के निकट श्रद्धापूर्वक एवं निष्ठापूर्वक बैठना। आदिगुरु शंकराचार्य ने केनोपनिषद् के भाष्य में उपनिषद् शब्द के अर्थ की व्याख्या इस प्रकार की है–''शिष्य का गुरू के निकट परमतत्व ब्रह्म का उपदेश सुनने के लिए निष्ठापूर्वक बैठना, जिससे उसकी अविद्या का नाश हो, ब्रह्म की प्राप्ति हो और उसके कर्मबन्धन शिथिल हों।''

प्रमुख उपनिषद् – उपनिषदों की संख्या अनेक है। प्रत्येक वेद के कई उपनिषद् हैं। मुक्तिकोपनिषद् के अनुसार उपनिषदों की संख्या 108 है। इनमें से ग्यारह उपनिषद् प्रमुख हैं। इन ग्यारह उपनिषदों पर आदिगुरू शंकराचार्य ने भाष्य लिखकर, इनकी विस्तृत ज्ञानात्मक व्याख्या की है। ये ग्यारह उपनिषद् इस प्रकार हैं– ईशावास्योपनिषद्, केनोपनिषद, कठोपनिषद, प्रश्नोपनिषद्, मुण्डकोपनिषद्, माण्डूक्योपनिषद्, ऐतरेयोपनिषद्, तैत्तिरीयोपनिषद्, छान्दोग्योपनिषद्, बृहदारण्यकोपनिषद् और श्वेताश्वतरोपनिषद्। उपनिषद् न केवल भारतीय चिन्तकों के लिए अपितु पाश्चात्य चिन्तकों के लिए भी समान रूप से आकर्षण का विषय रहें हैं। कुछ प्रमुख भारतीय एवं पाश्चात्य चिन्तकों की दृष्टि में उपनिषदों का महत्व इस प्रकार है–

स्वामी विवेकानन्द के अनुसार–''उपनिषद् ही शक्ति की खानें हैं। उनमें ऐसी शक्ति भरी है, जो सम्पूर्ण विश्व को बल, शौर्य एवं नवजीवन प्रदान कर सकें। उपनिषद् किसी भी देश, जाति, मत व सम्प्रदाय का भेद किये बिना हर दीन, दुर्बल, दुःखी और दलित प्राणी को पुकार–पुकार कर कहते हैं–उठो, अपने पैरो पर खडे हो जाओ और बन्धनों को काट डालो। शारीरिक स्वाधीनता, मानसिक स्वाधीनता एवं आध्यात्मिक स्वाधीनता यही उपनिषदों का मूल मन्त्र है।''

गोविन्दबल्लभ पंत– ''उपनिषद् सनातन दार्शनिक ज्ञान के मूल स्त्रोत हैं। वे केवल प्रखरतम बुद्धि का परिणाम नहीं हैं, अपितु प्राचीन ऋषियों की अनुभूतियों का फल है।''

सन्त विनोबा भावे– ''मेरे जीवन में 'गीता' ने माँ का स्थान लिया है। वह स्थान तो उसी का है। लेकिन मैं जानता हूँ कि उपनिषद् मेरी मां की भी मां है। उसी श्रद्धा से मेरा उपनिषदों का मनन निदिध्यासन पिछले बत्तीस वर्षों से चल रहा है।''

जर्मन दार्शनिक शोपेनहावर– ''सम्पूर्ण भू–मण्डल पर मूल उपनिषदों के समान इतना अधिक फलोत्पादक और उच्च भावों से युक्त ग्रन्थ कहीं नहीं है। इन्होंने मुझे जीवन में शान्ति प्रदान की है और मरते समय भी ये मुझे शान्ति प्रदान करेंगे।''

मैक्समूलर– ''मृत्यु के भय से बचने, मृत्यु के लिए पूर्ण तैयारी करने और सत्य को जानने के इच्छुक जिज्ञासुओं के लिए उपनिषदों के अतिरिक्त कोई अन्य मार्ग मेरी दृष्टि में नहीं है। उपनिषदों के ज्ञान से मुझे अपने जीवन के उत्कर्ष में बहुत अधिक सहायता मिली है। मैं उनका ऋणी हूँ। ये उपनिषद आत्मिक उन्नति के लिए विश्व के समस्त धार्मिक साहित्य में अत्यन्त सम्माननीय रहे हैं और आगे भी रहेंगे।''

(2) ब्रह्म का स्वरूप–

उपनिषदों का प्रमुख प्रतिपाद्य विषय ब्रह्म है। उपनिषदों के अनुसार ब्रह्म ही एकमात्र परमसता है। ब्रह्म शब्द बृह् धातु से बना है, जिसका अर्थ है–बढना या विकसित होना। ब्रह्म वह परमसत्ता है, जिसके द्वारा जगत के पदार्थो का उद्भव, विकास और संचालन होता है। छान्दोग्योपनिषद् के अनुसार ब्रह्म वह है–जो जगत् को उत्पन्न करता है, उसे धारण करता है और उसे स्वयं में लीन कर लेता हैं। तैतिरीयोपनिषद् में भी ब्रह्म को जगत का कारण बताया गया है। इस उपनिषद् में जब महर्षि वरूण का पुत्र भृगु अपने पिता से यह प्रश्न करता है कि मुझे उस यथार्थ सत्ता के विषय में बताइये, जिसके द्वारा समस्त जगत का विकास होता है और जिसमें यह समस्त जगत समा जाता है। इस प्रश्न के उत्तर में महर्षि वरूण कहते हैं–ये समस्त प्राणी जिससे उत्पन्न होते हैं, जिससे ये जीवित रहते हैं और ये अन्ततः जिसमें लीन हो जाते हैं, वह ब्रह्म है। इसके पश्चात भृगु क्रमशः

विचार करते है कि अन्न ब्रह्म है, प्राण ब्रह्म है, मन ब्रह्म है, विज्ञान ब्रह्म है और आनन्द ब्रह्म हैं। ब्रह्म विषयक ये पांच विचार पंच कोशों का निर्माण करते हैं। ब्रह्म का सबसे ऊपरी कोश अन्नमय कोश है। इसके पश्चात् क्रमशः प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय कोश है। अन्तिम कोश आनन्दमय कोश है, जिसमें आनन्दरूप ब्रह्म है। वस्तुतः आनन्द उच्चतम ब्रह्म है, जिसमें ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान एकाकार हो जाते हैं।

उपनिषदों में ब्रह्म और आत्मा के मध्य तादात्म्य सम्बन्ध स्वीकार किया गया है। ब्रह्म और आत्मा सर्वथा एक ही है। जो शुद्ध चैतन्य आत्मतत्व में प्रकाशित हो रहा है, वही समस्त चराचर जगत को प्रकाशित कर रहा है। जो व्यष्टि रूप में आत्मतत्व है, वही समष्टि रूप में ब्रह्म है। जो पिण्ड में है, वही समस्त ब्रह्माण्ड में है। ब्रह्म और आत्मा के मध्य यह तादात्म्य सम्बन्ध 'यह आत्मा ब्रह्म है (अयमात्मा ब्रह्म), मैं ब्रह्म हूं (अहं ब्रह्मास्मि), वह तू ही है (तत् त्वमसि), मैं वह हूं (सो हम) आदि महावाक्यों से सिद्ध होता है।

तैत्तिरीयोपनिषद में ब्रह्म को सत्य, ज्ञान एवं अनन्त (सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म) कहा गया है। यहाँ सत्य का अर्थ ब्रह्म की त्रिकाल अबाधित सत्ता से है। ज्ञान का अर्थ ब्रह्म के चेतन स्वरूप से है। अनन्त का अर्थ ब्रह्म के देश काल और कारण से परे होने से है। ब्रह्म सत्यस्वरूप, चित्तस्वरूप एवं आनन्द स्वरूप अर्थात् सचिदानन्द स्वरूप है। यहाँ सत् से असत् की, चित् से अचित् (जडता) की और आनन्द से अपूर्णता की निवृत्ति होती है। अतः ब्रह्म में अनस्तित्व जड़ता एवं अपूर्णता का पूर्णतया अभाव है।

उपनिषदों में ब्रह्म का वर्णन दो रूपों में मिलता है। यहाँ ब्रह्म का निर्गुण भी कहा गया है और सगुण भी, निर्गुण ब्रह्म की संज्ञा और सगुण ब्रह्म को 'अपरब्रह्म' की संज्ञा दी गई है। परब्रह्म के रूप में ब्रह्म निर्गुण निरकार, निर्विशेष, निष्प्रपंच, निर्विकल्प और निरूपाधिक है। अपरब्रह्म के रूप में सगुण, साकार, सविशेष, सप्रपंच, सविकल्प और सोपाधिक है। अपरब्रह्म को ईश्वर भी कहा गया है। इस रूप में ब्रह्म जगत सृष्टा, पालकर्ता और संहारकर्ता है। उपनिषदों में परब्रह्म की व्याख्या नेति–नेति कहकर की गई है। नेति–नेति का अर्थ है न इति न इति अर्थात ऐसा नहीं ऐसा नहीं। नेति–नेति के अर्थ में परब्रह्म अनिर्वचनीय है। यहाँ अनिर्वचनीय का अर्थ है कि ब्रह्म के अनन्त स्वरूप की व्याख्या वाणी के माध्यम से नहीं की जा सकती है। अतः नेति–नेति से ब्रह्म की अनिर्वचनियता का बोध होता है उसकी शून्यता का नहीं उपनिषदों के अनुसार ब्रह्म स्वतः सिद्ध और स्वप्रकाश है। उपनिषदों का ब्रह्म ज्ञात है किन्तु मन, बुद्धि और तर्क के द्वारा नहीं अपितु अपरोक्षानुभूति के द्वारा।

जीवात्मा का स्वरूप– आत्मा के स्वरूप का विवेचन उपनिषदों का प्रमुख विषय है। उपनिषदों के अनुसार आत्मा स्वतःसिद्ध और स्वप्रकाश है। प्रत्येक मनुष्य अपनी आत्मा का साक्षात् अनुभव करता है। ''मैं हूँ'' यह ज्ञान आलोचना या संशय का विषय नहीं है। यदि आत्मा का निषेध भी किया जाये तो उसकी सत्ता सिद्ध हो जाती है, क्योंकि निषेधकर्ता स्वयं आत्मन् ही है। आत्मन् शब्द की व्युत्पत्ति को आदिगुरू शंकराचार्य ने कठोपनिषद के भाष्य में इस प्रकार स्पष्ट किया है– ''आत्मा जगत के समस्त पदार्थों में व्याप्त रहता है, समस्त पदार्थों को अपने में ग्रहण करता हैं, समस्त पदार्थों का अनुभव करता है और इसकी सत्ता निरन्तर बनी रहती है।'' उपनिषदों में आत्मा और ब्रह्म अभिन्न है। आत्मा और ब्रह्म एक ही तत्व की अलग–अलग दृष्टियों से व्याख्या है। एक ही तत्व को आत्मनिष्ठ दृष्टि से आत्मा तथा वस्तुनिष्ठ दृष्टि से ब्रह्म कहा गया है। ब्रह्म और आत्मा की अभिन्नता को उपनिषदों में प्रज्ञा स्वरूप आत्मा ब्रह्म है (प्रज्ञानम् ब्रह्म), मैं ब्रह्म हूँ (अहं ब्रह्मस्मि), तत् त्वमसि (वह तू है) और यह आत्मा ब्रह्म (अयमात्मा ब्रह्म) इन महावाक्यों के द्वारा सिद्ध किया गया है।

उपनिषदों के अनुसार जीवात्मा और आत्मा में भेद है। जीव वैयक्तिक आत्मा है, जबकि आत्मा परमात्मा है। जब आत्मा शरीर, इद्रिय, मन, बुद्धि इत्यादि से युक्त होती तो वह जीवात्मा कहलाती है। जीवात्मा ज्ञाता, कर्ता और भोक्ता है। जीवात्मा विभिन्न विषयों का ज्ञान प्राप्त करता हैं इसलिए उसे ज्ञाता कहा गया है। वह जगत के विभिन्न कर्मों को सम्पन्न करता हैं, इसलिए उसे कर्ता कहा गया है। वह अपने शुभ–अशुभ कर्मों के अनुसार पुण्य–पाप या सुख–दुःख का अनुभव करता हैं, इसलिए उसे भोक्ता कहा गया है। आत्मा केवल साक्षी मात्र है। वह कर्म एवं उसके फल पाप–पुण्य से परे है। वह जीवात्मा के कर्मो एवं उनके फलों का उदासीन साक्षी है। छन्दोग्योपनिषद् के अनुसार यह शरीर तो मरणधर्मा है। यह मरणधर्मा शरीर अमृत–रूप आत्मा का अधिष्ठान है। आत्मतत्व स्वरूपतः अशरीरवान है, परन्तु जब इस शरीर के साथ अपना तादात्म्य सम्बन्ध स्थापित कर लेता है, तब उसे सुख–दुःख की अनुभूति होती है। जब तक वह शरीर से एकता बनाये रखता हैं, तब तक सुख–दुःख नहीं छूटते, लेकिन अपने वास्तविक स्वरूप की अनुभूति होने पर उसे सुख–दुःख स्पर्श तक नहीं करते। उपनिषदों के अनुसार अविद्या बन्धन का मूल कारण है। अविद्या की अवस्था में नित्य–अनित्य का अन्तर स्पष्ट नहीं होता। अविद्या के कारण जीवात्मा अहंकारग्रस्त हो जाता है। अहंकार के वशीभूत होने पर जीवात्मा इन्द्रियों, मन, बुद्धि और शरीर से अपना तादात्म्य स्थापित कर लेता है, जिससे वह बन्धनग्रस्त हो जाता है। जीवात्मा द्वारा अपने स्वरूप को न जानकर किया गया कोई भी कर्म बन्धन का कारण है। आत्मज्ञान का अभाव ही कर्मबन्धन की श्रृंखला को दृढता प्रदान करता है। परन्तु जब जीवात्मा सच्चिदानन्द ब्रह्म से स्वयं को अभिन्न जान लेता है, तब वह बन्धन मुक्त हो जाता है।

लगभग समस्त उपनिषदों के अध्ययन से ज्ञात होता है

कि आत्मज्ञान या ब्रह्मज्ञान होने पर जीव कर्मबन्धन से मुक्त होकर परमानन्द की अनुभूति करता है। कठोपनिषद् में कहा गया है कि जब हृदय में स्थित समस्त कामनाओं का त्याग हो जाता है, तब जीव अमरत्व का अनुभव करता है और संसार में रहते हुए भी ब्रह्मात्मभाव का अनुभव करता है। मुण्डकोपनिषद् में स्पष्ट किया गया है कि जो उस परब्रह्म को जानता है, वह ब्रह्म ही हो जाता है। उस आत्मा का ओंकार के रूप में ध्यान करो, तुम्हारा कल्याण होगा, गहन अंधकार से पार जाने यही प्रमुख साधन है। उपनिषद् मानवीय आत्मा के दिव्य रूप को उदघाटित करते है। उपनिषदों के अनुसार आत्म ब्रह्मस्वरूप है। प्रत्येक मनुष्य अपने दिव्य ब्रह्मस्वरूप, आत्मा, की अनुभूति कर सकता है। इस दिव्य ब्रह्मस्वरूप आत्मा की अनुभूति करना ही मानवीय जीवन का परम लक्ष्य है।

आत्मा की अवस्थाएँ– माण्डूक्योपनिषद के अनुसार आत्मा की चार अवस्थाएँ है। ये अवस्थाएँ हैं– 1. जाग्रत अवस्था, 2. स्वप्न अवस्था, 3. सुषुप्ति अवस्था तथा 4. तुरीय अवस्था। आत्मा की इन चार अवस्थाओं का विस्तृत विवेचन इस प्रकार है –

1. जाग्रत अवस्था– जाग्रत अवस्था आत्मा का प्रथम चरण । इस अवस्था में आत्मा की प्रज्ञा बाह्य होती है। अर्थात् यह बाह्य विषयों को प्रकाशित करती है। बहिष्प्रज्ञ होने के कारण जीवात्मा बाह्य विषयों का अनुभव करता है। इस अवस्था में जीवात्मा के सात अंग और उन्नीस मुख होते हैं। इस अवस्था में यह स्थूल विषयों को भोक्ता होता है। इस अवस्था में आत्मा का स्वरूप वैश्वानर कहलाता है।

2. स्वप्न अवस्था– स्वप्नावस्था आत्मा का द्वितीय चरण है। यह स्वप्नकालीन अवस्था है। इस अवस्था में आत्मा की प्रज्ञा अन्तः होती है। अन्तः प्रज्ञ होने के कारण जीवात्मा सूक्ष्म विषयों का अनुभव करता है। इस अवस्था में आत्मा के सात अंग और उन्नीस मुख होते हैं। इस अवस्था में यह सूक्ष्म विषयों का भोक्ता होता है। इस अवस्था में आत्मा का स्वरूप तैजस कहलाता है। इस अवस्था में आत्मा की बाह्य प्रज्ञा सुप्त रहती है किन्तु उसकी अन्तः प्रज्ञा जाग्रत रहती है, जिसका सम्बन्ध सूक्ष्म शरीर की गतिविधियों से होता है।

3. सुषुप्ति अवस्था– सुषुप्तावस्था आत्मा का तृतीय चरण है। जिस अवस्था में सोया हुआ जीवात्मा न किसी भोग की इच्छा करता है और न कोई स्वप्न देखता है, उसे सुषुप्ति अवस्था कहते हैं। यह सुषुप्तावस्था जिसका स्थान है तथा जो एकीभूत प्रकृष्ट ज्ञानस्वरूप होता हुआ आनन्दमय है। इस अवस्था में आत्मा आनन्द का भोक्ता और चेतना रूप मुखवाला है। इस अवस्था में आत्मा का स्वरूप प्राज्ञ कहलाता है।

4. तुरीय अवस्था– तुरीय अवस्था आत्मा का चतुर्थ चरण है। यह आत्मा का यथार्थ एवं वास्तविक स्वरूप है। इस अवस्था में आत्मा न अन्तःप्रज्ञ, न बहिष्प्रज्ञ और न इन दोनों का संघात है, न प्रज्ञाघन है, न प्रज्ञ है और न अप्रज्ञ है। जो अदृष्ट अर्थात देखा नहीं गया है, अव्यवहार्य अर्थात जो व्यवहार में नहीं लाया जा सकता, अग्राह्य अर्थात जो ग्रहण नहीं किया जा सकता, अलक्षण अर्थात जो लक्षणों से रहित है, अचिन्त्य अर्थात जो चिन्तन करने में नहीं आ सकता, अव्यपदेश्य अर्थात जो बतलाया नहीं जा सकता, एकात्म प्रत्ययसार अर्थात एकमात्र आत्मसत्ता की प्रतीति ही जिसका सार है, जिसमें प्रपंचो का सर्वथा अभाव है, ऐसा शान्त, शिव और अद्वैत स्वरूप आत्मा का चतुर्थ तुरीय स्वरूप है। यही आत्मा का यथार्थ स्वरूप है और यही जानने योग्य है।

(3) श्रीमद्भगवद्गीता–

श्रीमद्भगवद्गीता भारतीय आध्यात्मिक चिन्तन परम्परा का सर्वाधिक पवित्र और सर्वमान्य ग्रन्थ है। गीता साक्षात् भगवान श्रीकृष्ण के मुखारविन्द से प्रकट हुई है। गीता का शाब्दिक अर्थ है– 'जो गायी गयी हो'। भगवान श्रीकृष्ण स्वयं जिस उपनिषद् का गायन करते हैं, उसी का नाम श्रीमद्भगवद्गीता है। गीता वस्तुतः सर्वशास्त्रमयी है। इसमें समस्त शास्त्रों का सारतत्व विद्यमान है। गीता महर्षि वेदव्यास द्वारा लिखित 'महाभारत' नामक महाकाव्य के 'भीष्म पर्व' का भाग है। महाभारत महाकाव्य से बाहर लाकर इस पर प्रथम भाष्य लिखने का श्रेय आदिगुरु शंकराचार्य को है। इसमें कुल 18 अध्याय और 700 श्लोक हैं। इसके आध्यात्मिक जीवनदायी संदेश समस्त मानवजाति के लिए समान रूप से ग्रहण करने योग्य हैं। ज्ञान–भक्ति और कर्म की त्रिधारा को स्वयं में समाहित किये हुए गीता हमें समत्व योग का संदेश देती है। गीता मुख्यतः कर्तव्यशास्त्र हैं। इसका प्रमुख उद्देश्य मानवमात्र को निष्कामभाव से कर्तव्य में संलग्न कर उसे आध्यात्मिक उन्नति प्रदान करना है। स्वामी विवेकानन्द गीता को व्यवहारिक वेदान्त का सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ कहते है।

गीता का प्रथम दृश्य युद्धक्षेत्र का है। युद्धभूमि कुरूक्षेत्र में एक ओर कौरव हैं तो दूसरी ओर पाण्डव। एक ओर पितामह भीष्म, द्रोणाचार्य आदि हैं तो दूसरी ओर उनके पुत्र, पौत्रगण इत्यादि। युद्धभूमि में अपने आत्मीयजनों को प्रतिपक्षी यौद्धाओं के रूप में देखकर अर्जुन विषादग्रस्त हो जाता है। मोह के वशीभूत अर्जुन शस्त्रत्याग कर युद्ध से पलायन करने का निश्चय करता है। मोह और कर्तव्य के मध्य उत्पन्न अन्तर्द्वन्द्व ने अर्जुन के समक्ष एक विकट परिस्थिति उपस्थित कर दी है। वह इस विकट परिस्थिति में उचित निर्णय लेने में असमर्थ प्रतीत हो रहा है। एक ओर तो युद्ध के द्वारा आत्मीयजनों की हिंसा है, तो दूसरी स्वधर्म से पलायन का मार्ग है। अर्जुन संशयग्रस्त अवस्था में है कि युद्ध करे या नहीं। यहीं से गीता का प्रारम्भ होता है। अर्जुन अपने हृदय की दुर्बलता को उच्च नैतिक आदर्शों के द्वारा व्याख्यायित

करता है। वह युद्ध में होने वाली हिंसा से तो भीक्षा में प्राप्त होने वाले अन्न को श्रेष्ठ मानता है। वह अहिंसक मार्ग का समर्थन करते हुए संन्यास ग्रहण करना चाहता है। किन्तु भगवान श्रीकृष्ण मोहग्रस्त अर्जुन के हृदय की दुर्बलता को भलीभांति जानते हैं। वे उसके क्षणिक वैराग्य का समर्थन न करते हुए उससे युद्ध का आह्वान करते हैं। अर्जुन क्षत्रिय है। वर्णाश्रम धर्म के अनुसार एक क्षत्रिय के लिए धर्म की स्थापना हेतु युद्ध करना उसका स्वधर्म है। भगवान श्रीकृष्ण अर्जुन से हृदय की दुर्बलता को त्यागकर स्वधर्म पालन का आह्वान करते हैं। युद्धभूमि कुरूक्षेत्र में किंकर्तव्यविमूढ अर्जुन को भगवान श्रीकृष्ण द्वारा दिया गया ज्ञान–भक्ति और कर्म से युक्त उपदेश ही 'गीता' के नाम से प्रसिद्ध है ।

युद्धभूमि कुरूक्षेत्र का मैदान जीवन संग्राम एवं जीवन के अन्तर्द्वन्द्वों को व्यक्त करता है। इस युद्धभूमि में अर्जुन मानवमात्र का प्रतिनिधि है। वह जीवन–संग्राम में कर्तव्य–अकर्तव्य का निर्धारण करने में असमर्थ है । प्रत्येक मनुष्य के जीवन में ऐसी परिस्थितियाँ आती हैं, जब वह अपने कर्तव्यपथ से विमुख होकर उचित निर्णय लेने में असमर्थ प्रतीत होता है। जीवन की इन विषम परिस्थितियों में हमें एक ऐसे गुरू की आवश्यकता होती है, जो हमारा उचित मार्गदर्शन कर हमें कर्तव्यपथ का ज्ञान कराये। गीता में संशयग्रस्त अर्जुन जिज्ञासु शिष्य की भूमिका में और भगवान श्रीकृष्ण महान पथप्रदर्शक गुरू की भूमिका में है। भगवान श्रीकृष्ण अर्जुन के माध्यम से प्रत्येक मनुष्य को अनासक्त भाव से स्वधर्म का पालन करने के लिए प्रेरित करते है। अनासक्त भाव से स्वधर्म पालन में ही मनुष्य का लौकिक और आध्यात्मिक कल्याण अन्तर्निहित है।

गीता के जीवनदायी आध्यात्मिक सन्देश सार्वभौमिक, सार्वकालिक और व्यवहारिक हैं। ये आध्यात्मिक सन्देश किसी विशेष व्यक्ति, जाति, धर्म, सम्प्रदाय या देश के लिए न होकर सम्पूर्ण विश्व के समस्त मानव–समुदाय के लिए समानरूप से प्रेरणास्पद है। गीता के आध्यात्मिक संदेश शताब्दियों से मानव–मन को प्रेरित कर रहें हैं। न केवल भारतीय चिन्तक अपितु पाश्चात्य चिन्तक भी गीता की महत्ता को स्वीकार करते हैं। स्वामी विवेकानन्द, बालगंगाधर तिलक, महर्षि अरविन्द, विनोबा भावे, महात्मा गांधी, डॉ. राधाकृष्णन जैसे आधुनिक भारतीय चिन्तक मुक्त कण्ठ से गीता की प्रशंसा करते हुए इसकी महत्ता को स्वीकार करते हैं। अमेरिका में इमर्सन, वॉल्ट विह्टमैन एवं थोरो तथा स्काटलैण्ड में कार्लायल जैसे महान चिन्तकों ने गीता की गम्भीरता एवं उदारता को अपने जीवन में अनुभव किया। गीता से प्रभावित इनकी रचनाओं ने जनमानस को अत्यधिक प्रेरित किया।

संयुक्त राज्य अमेरिका में कांकॉर्ड, नामक एक शहर है। लोकप्रिय, सुप्रसिद्ध एवं महान चिन्तक इमर्सन ने अपने जीवन के अन्तिम 48 वर्ष इसी नगर में व्यतीत किये। इसी नगर से उन्होंने अपने उदार, उदात्त, उत्कृष्ट एवं प्रेरणादायी विचार सम्पूर्ण अमेरिका में प्रचारित किये। अमेरिका में श्रोताओं को सम्बोधित करते हुए एक बार स्वामी विवेकानन्द ने कहा–''आप लोगों में से जिन्होंने गीता नहीं पढी है, उन्हें मैं इसे पढने की सलाह दूंगा। यदि आपको ज्ञात होता कि आपके देश अमेरिका को गीता ने कितना प्रभावित किया है, तो आज तक आप इसे बिना पढे नहीं रहते। इमर्सन के भाव–स्त्रोंतो का उद्‌गम यही गीता है। एक बार वे थॉमस कार्लायल से मिलने गए। कार्लायल ने उन्हें गीता भेंट की। कांकॉर्ड में जिस उदार दार्शनिक तत्व के आन्दोलन की शुरूआत हुई, उसकी नींव इसी छोटी सी पुस्तक से पडी। अमेरिका में जितने भी उदार भावों के आन्दोलन है, वे सभी किसी न किसी प्रकार से उस कांकॉर्ड आन्दोलन के ऋणी हैं।'' गीता का सर्वप्रथम अंग्रेजी अनुवाद सर चार्ल्स विल्किन्स द्वारा किया गया था। भारत के प्रथम गवर्नर जनरल वारेन हेस्टिंग्स ने स्वयं इसकी भूमिका में लिखा–''जिज्ञासा जगाने वाले जो कुछ सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ आज तक सुशिक्षित जगत को उपलब्ध हुए हैं, उनमें से गीता एक अद्‌भुत ग्रन्थ है। जब भारत में अंग्रेजों का प्रभुत्व समाप्त हुए काफी काल बीत चुका होगा और इसकी सम्पदा तथा सत्ता के उद्‌गम स्मृति–मात्र का विषय होकर रह जायेंगे तब भी भारतीय दर्शनों के लेखक जिन्दा रहेंगे।'' गीता में

योग की अवधारणा– योग गीता का मुख्य प्रतिपाद्य विषय है, इसलिए इसे योगशास्त्र भी कहते हैं। योग शब्द 'युज' धातु से बना है, जिसका प्रयोग समाधि और संयोग इन दोनों अर्थों में किया जाता है। गीता में योग शब्द मुख्यतः आत्मा और परमात्मा के संयोग के लिए साधन मार्ग के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। इसके अतिरिक्त गीता में कर्म की कुशलता (योगः कर्मसु कौशलम) तथा समत्व को योग कहा गया है (समत्वं योग उच्यते)। गीता में योग के विभिन्न स्वरूपों की चर्चा की गई है, जैसे कर्मयोग, सांख्ययोग, भक्तियोग, ध्यानयोग, बुद्धियोग, समत्वयोग आदि। इनमें से कौनसा योगमार्ग आत्मसाक्षात्कार या ईश्वर साक्षात्कार का प्रमुख साधन है? इस विषय में विभिन्न भाष्यकारों के अलग–अलग मत हैं। आदिगुरू शंकराचार्य ज्ञानयोग को, रामनुजाचार्य भक्तियोग तथा बालगंगाधर तिलक कर्मयोग को आत्मसाक्षात्कार या ईश्वर साक्षात्कार का सर्वश्रेष्ठ साधन स्वीकार करते हैं।

कर्मयोग की अवधारणा– गीता में कर्मयोग के स्वरूप और इसकी महत्ता पर विस्तृत विवेचन किया गया है। कर्मयोग के अतिरिक्त ज्ञानयोग, भक्तियोग और राजयोग में एकान्त साधना की आवश्यकता होती है। एकमात्र कर्मयोग ही आध्यात्मिक आदर्श को जीवन संघर्ष के व्यस्ततम क्षेत्रों में पहुंचा देता है। कर्मयोग का लक्ष्य स्वयं की मुक्ति और लोकसंग्रह के माध्यम से जगत का कल्याण है। जब कोई कर्म कर्मफल की

आसक्ति से रहित होकर, कर्तृत्व के अहंकार से मुक्त होकर तथा ईश्वर की आराधना के निमित्त किया जाता है, तो वह कर्मयोग कहलाता है। कर्मयोग में मुख्यतः आत्मसमर्पण भाव निहित होता है। कर्मयोग में कर्म का कर्तृत्व और भोक्तृत्व दोनो स्वयं न ग्रहण करके ईश्वर को समर्पित किया जाता है। यहां कर्तृत्व से अभिप्राय कर्तापन के अहंकार से तथा भोक्तृत्व का अभिप्राय कर्मफल के भोग से है। कर्म का कर्तृत्व एवं भोक्तृत्व ईश्वर को समर्पित करने पर कर्म हमारे लिए साधना बन जाता है। कर्मफल की आसक्ति और कर्तृत्व के अहंकार से किया गया प्रत्येक कर्म हमारे लिए बन्धनस्वरूप है। जब कर्तृत्व का अहंकार एवं कर्मफल ईश्वर को समर्पित करते हुए कोई कर्म किया जाता है, तो वह कर्मयोग में परिणत हो जाता है। इस प्रकार कर्मयोग हमारे लिए अहंनाश तथा कर्मबन्धन काटने का सक्षम साधन बन जाता है। गीता कर्मयोग रूप में हमारे समक्ष एक ऐसा उपाय प्रस्तुत करती है, जिसके द्वारा कर्म हमारे लिए बन्धन का कारण न बनकर भगवद् प्राप्ति के साधन बन जाते हैं।

गीता मुख्यतः कर्तव्यशास्त्र है। इसका मुख्य उद्देश्य मानवमात्र को अनासक्त भाव से अपने स्वधर्म पालन हेतु प्रेरित कर उसे आध्यात्मिक उन्नति प्रदान करना है। भगवान श्रीकृष्ण के अनुसार कोई भी मनुष्य क्षणमात्र भी बिना कर्म किये नहीं रहता, क्योंकि सम्पूर्ण मानव समुदाय प्रकृति से उत्पन्न गुणों द्वारा परवश हुआ कर्म करने के लिए बाध्य किया जाता है। कर्मो के साथ ही इनके शुभ–अशुभ कर्मफल भी सुनिश्चित हैं। कर्मो के अनुसार इन कर्मफलों को भोगना भी अनिवार्य हैं। इस प्रकार कर्म की अनिवार्यता से कर्मबन्धन भी अनिवार्य प्रतीत होता है। कर्मबन्धन के विषय में गीता में स्पष्ट किया गया है कि कर्म से बन्धनग्रस्त होना कर्ता के दृष्टिकोण पर निर्भर करता है। यदि किये गये कर्म के प्रति कर्तापन का अहंकार और फलासक्ति है, तो वह इष्ट, अनिष्ट, और मिश्रित परिणाम देता है। जबकि कर्तापन के अहंकार एवं फलासक्ति से रहित कर्म बन्धन का कारण नहीं होते। अज्ञान से युक्त कर्तृत्व का अहंकार एवं कर्मफल के प्रति आसक्ति ही कर्मबन्धन का प्रमुख कारण है।

गीता में यह स्पष्ट किया गया है कि किसी भी कर्म की सिद्धि में पांच तत्वों की भूमिका महत्वपूर्ण होती है। ये इस प्रकार हैं–अधिष्ठान, कर्ता, करण, चेष्टा और देव। यहाँ अधिष्ठान से अभिप्राय शरीर से है अर्थात जिसके आश्रय में समस्त कर्म सम्पन्न होते हैं। जिन–जिन इन्द्रियों और साधनों के माध्यम से कर्म किये जाते हैं उनका नाम करण है। इनकी पारस्परिक क्रियाओं का नाम चेष्टा है। मन, बुद्धि और अहंकार से युक्त जीवात्मा यहाँ कर्ता है। जबकि पूर्व जन्मों में किये गये शुभ और अशुभ कर्मो के संस्कार को 'दैव' की संज्ञा दी गई है। मुनष्य मन, वचन और शरीर से शास्त्रों के अनुकूल अथवा प्रतिकूल जो भी कर्म करता है, उसके ये पांच कारण हैं। किन्तु ऐसा होने पर भी जो अशुद्ध बुद्धि युक्त मनुष्य कर्मों के सम्पन्न होने में केवल शुद्ध स्वरूप आत्मा को कर्ता मानता है, वह मलिन बुद्धि वाला अज्ञानी अयथार्थ ही समझता है। कर्म को योग में परिणत करने हेतु कर्तृत्व के अहंकार के त्याग के साथ–साथ फलासक्ति का त्याग भी आवश्यक है। गीता के सम्पूर्ण कर्म–दर्शन का सार इस श्लोक में निहित है–''हे अर्जुन! तेरा केवल कर्म में अधिकार है, उसके फल में कदापि नहीं। इसलिए तू कर्मो के फल का हेतु मत बन तथा तेरी कर्म न करने में भी आसक्ति न हो'' :–

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेशु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते संगोऽस्त्वकर्मणि।। (2/47)

इस श्लोक में भगवान श्रीकृष्ण स्पष्ट करते हैं कि मनुष्य का अधिकार केवल कर्म में है, उसके फल में नहीं। मनुष्य सामान्यतः जब भी कोई कर्म करता है, तो उसके फल का कारण भी स्वयं बन जाना चाहता है। मनुष्य जब स्वयं कर्मफल का कारण बनता है, तो वह बन्धनग्रस्त हो जाता है। कोई कर्म मनुष्य को कब बन्धनग्रस्त करता है? जब उस कर्म के फल में हमारी आसक्ति होती है। कर्मफल कर्मसिद्धान्त के नियमानुसार निश्चित है, किन्तु हम जब कर्मफल के प्रति अत्यधिक आसक्तिवान होते हैं तो कर्म हमारे बन्धन का कारण बन जाता है। बाल गंगाधर तिलक अपने ग्रन्थ गीता रहस्य में स्पष्ट करते हैं –''जड़ अथवा अचेतन कर्म न किसी को बान्ध सकते हैं और न ही किसी को मुक्त कर सकते हैं। मनुष्य फलाशा अथवा अपनी आसक्ति से ही बन्ध जाता है। इस आसक्ति से मुक्त होकर वह यदि केवल बाह्य इन्द्रियों से कर्म करे तो वह मुक्त ही है।'' गीता में कर्मफल आसक्ति के त्याग से क्या अभिप्राय है? इसे स्पष्ट करते हुए तिलक कहते हैं–''यहाँ फलासक्ति त्याग से गीता का यह अभिप्राय नहीं है कि कर्मो को योजनानुसार सम्पन्न न किया जाये या उस कर्म का कोई फल प्राप्त न हो अथवा जो फल प्राप्त हो उसका त्याग कर दिया जाये। गीता इन सभी को अस्वीकार करते हुए स्पष्ट करती है कि जब मनुष्य के मन में यह भाव होता है कि मैं जो कर्म करता हूँ मेरे उस कर्म का अमुक फल मुझे अवश्य ही प्राप्त होना चाहिए अर्थात् कर्मफल के विषय में कर्त्ता की बुद्धि में ममत्व की आसक्ति, अभिमान, आग्रह या इच्छा उत्पन्न हो जाती है और मन उसी से ग्रस्त हो जाता है। इस प्रकार जब इच्छानुसार फल मिलने में बाधा उत्पन्न होने लगती है, तभी दुःख की परम्परा का आरम्भ हुआ करता है।'' गीता में इसी फलासक्ति के त्याग पर विशेष बल दिया गया है।

कर्तृत्व के अहंकार और कर्मफल में आसक्ति के त्याग के साथ कर्म को योग में परिणत करने हेतु उसे ईश्वर आराधना के रूप में करना आवश्यक है। इसलिए भगवान श्रीकृष्ण गीता में कहते हैं–''जिससे प्राणियों की उत्पति हुई है, और जिस परमात्मा से यह सम्पूर्ण विश्व व्याप्त है, उसकी अपने कर्तव्य कर्मो के द्वारा उपासना करते हुए मनुष्य परमसिद्धि को प्राप्त कर

लेता है।'' इस श्लोक के अनुसार परम सिद्धि प्राप्त करने का उपाय है, अपने कर्तव्य–कर्मो के द्वारा उस परमपिता परमेश्वर की उपासना करना। अतः मनुष्य को चाहिए कि वह अपने स्वधर्म का पालन समत्व भाव से करते हुए, उसके कर्मफलों को ईश्वर को समर्पित करते हुए उसकी उपासना करें। इस प्रकार स्वधर्म के माध्यम से ईश्वर की उपासना के द्वारा वह परमसिद्धि को प्राप्त करता हैं। –

यतः प्रवृतिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः।।

(18/46)

गीता हमारे समक्ष एक नवीन दृष्टिकोण प्रस्तुत करती है कि कर्तव्य–कर्मो का पालन फलासक्ति से रहित होकर करना चाहिए। हम कर्मफल का कारण न बने और अकर्मण्यता से भी दूर रहें। यहाँ यह जिज्ञासा हो सकती है कि जब कर्मफल से कोई प्रयोजन न हो तो कर्म किये ही क्यों जायें। इस जिज्ञासा के समाधान हेतु गीता में स्पष्ट किया गया है कि कर्मो से संन्यास लेने अथवा कर्मो का परित्याग करने की अपेक्षा कर्म करना अधिक श्रेष्ठ है। कर्मो का त्याग करने मात्र से ही कोई मनुष्य परमसिद्धि को प्राप्त नहीं हो सकता। कर्म मानवीय प्रकृति का अनिवार्य परिणाम है। मनुष्य एक क्षण भी कर्म किए बिना नहीं रह सकता। मनुष्य प्रकृति से उत्पन्न सत्व, रज और तम, इन तीनों गुणों से नियंत्रित होकर या गुणों से परवश हो, कर्म में प्रवृत होता है। कर्म करना मनुष्य के लिए अनिवार्य है। कर्मो के बिना हमारा शरीर निर्वाह भी सम्भव नहीं है। भगवान श्रीकृष्ण स्वयं कहते हैं कि तीनों लोकों में उनका कोई भी कर्त्तव्य नहीं है। उन्हें कोई भी अप्राप्त वस्तु प्राप्त नहीं करनी है किन्तु फिर भी वे कर्म में संलग्न रहते हैं। यदि वे कर्म न करे तो मनुष्य भी उनके चलाए हुए मार्ग का अनुसरण करने से निष्क्रिय हो जायेंगे। इससे लोकस्थिति के लिए किये जाने वाले कर्मों का अभाव हो जायेगा, जिसके परिणामस्वरूप सम्पूर्ण प्रजा नष्ट हो जाएगी। इसलिए आत्मज्ञानी मनुष्य को भी सदैव कर्मरत रहना चाहिए। अज्ञानी मनुष्य जिस प्रकार फलासक्त होकर करता है उसी प्रकार आत्मज्ञानी मनुष्य को भी आसक्ति रहित होकर लोकसंग्रह को दृष्टिगत रखते हुए निरन्तर कर्म करने चाहिए।

भगवान श्रीकृष्ण का किसी कर्म के फल के विषय में यह महान मनोवैज्ञानिक सन्देश है कि कर्म का फल हमारे अधिकार में नहीं है। किसी भी कर्म का फल ईश्वरीय व्यवस्था के अधीन है। हमारी बुद्धि असन्तुलित तब होती है, जब कर्म करते समय हमारे मन में फल की चाह होती है। समान्यतः मनुष्य कर्मफल की भावना से प्रेरित होकर ही कोई कर्म करता है, किन्तु यह जीवन का कटु सत्य है कि मनुष्य का अधिकार केवल कर्म में है, उसके फल में नहीं। कर्मफल मानवीय अधिकार क्षेत्र के बाहर है। अतः कर्मफल के प्रति आसक्ति हमारे मन मे अशान्ति एवं उद्विग्नता को उत्पन्न करती है क्योंकि हो सकता है कि जिस कर्मफल की हमने आशा की हो वह हमें प्राप्त न हो। जब कर्मफल हमारी आशाओं के अनुरूप नहीं होता तो हम अशान्त, उद्विग्न और निराश हो जाते हैं। यह हताशा और निराशा हमें अपने कर्तव्य से विमुख भी कर सकती है। कभी–कभी मनुष्य इसी निराशा के कारण जीवन से भी पलायन कर जाता है। अतः सन्तुलित मनःस्थिति के लिए यह आवश्यक है, हम अपना पूरा ध्यान कर्म पर दें न कि कर्मफल पर। इसके अतिरिक्त कर्मफल के प्रति अत्यधिक लालसा हमारे कर्म की गुणवता को भी प्रभावित करती है। कर्मफल का अभिलाषी व्यक्ति अपना अधिकांश समय और क्षमता का दुरूपयोग कर्मफल के चिन्ता में व्यतित करता है। फलस्वरूप वह अपने कर्त्तव्यकर्म को पूर्ण कुशलता से सम्पादित करने में समर्थ नहीं होता। यदि वह अपने समय और क्षमताओं का सदुपयोग कर्म के क्रियान्वयन में लगाये तो वह अधिक गुणवता से अपने कर्म को सम्पादित करने में समर्थ होगा। इसलिए भगवान श्रीकृष्ण गीता में हमें यह महान् सन्देश देते हैं कि हमारा अधिकार केवल कर्म में हैं, उसके फल में नहीं।

ज्ञानयोग की अवधारणा– गीता में ब्रह्मसाक्षात्कार या आत्मसाक्षात्कार हेतु उपदिष्ट विभिन्न साधन मार्गो में ज्ञानयोग की भूमिका अत्यन्त महत्वपूर्ण है। आदिगुरु शंकराचार्य ज्ञानयोग को ब्रह्मसाक्षात्कार का प्रमुख साधन स्वीकार करते हैं। गीता में भगवान श्रीकृष्ण के मतानुसार इस संसार में ज्ञान के समान पवित्र अन्य कुछ नहीं है (न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते)। सब कर्मों की समाप्ति ज्ञान में होती है। ब्रह्मज्ञान या आत्मज्ञान अन्तिम है, जिसके पश्चात कुछ भी ज्ञातव्य शेष नहीं रहता। ब्रह्मज्ञान की स्थिति में ज्ञानी समस्त प्राणियों को अपनी आत्मा में और आत्मा को समस्त प्राणियों में देखता है। ऐसा ज्ञानी व्यक्ति किसी से घृणा नहीं करता। जो व्यक्ति सब प्राणियों को नित्य प्रभु में और प्रभु को समस्त प्राणियों में अनुभव करता है, वह उत्तम भगवद्भक्त है। इस प्रकार के ब्रह्मज्ञान की साक्षात् अनुभूति ही ज्ञानयोग का लक्ष्य है।

ज्ञान प्राप्ति के उपाय– ज्ञानयोग में ज्ञान का अभिप्राय ब्रह्मज्ञान या आत्मज्ञान की साक्षात अनुभूति से है। आध्यात्मिक ज्ञान के द्वारा अपने दिव्य आत्मस्वरूप की अनुभूति मानवीय जीवन का लक्ष्य है। इस ज्ञान की प्राप्ति किस प्रकार सम्भव है? इसका समाधान करते हुए भगवान श्रीकृष्ण गीता में स्पष्ट करते हैं कि यह ज्ञान तत्वदर्शी ज्ञानियों से प्राप्त होता है। ब्रह्मज्ञान के जिज्ञासु साधक को ऐसे तत्वदर्शी ज्ञानियों को प्रणाम करके, उनके प्रति श्रद्धाभाव व्यक्त करते हुए उनके समक्ष अपनी आध्यात्मिक जिज्ञासा प्रकट करनी चाहिए। यहां तत्त्वदर्शी ज्ञानी गुरू से अभिप्राय उन गुरूओं से है, जिन्होने साक्षात परब्रह्म तत्व की अनुभूति की हो। आध्यात्मिकता के क्षेत्र में गुरू का मात्र

विषय ज्ञाता होना पर्याप्त नहीं अपितु उसे उस परमतत्त्व का साक्षात ज्ञान होना आवश्यक है। इस क्षेत्र में गुरू का निष्पाप, निःस्वार्थी तथा तत्वदर्शी होना आवश्यक है।

अध्यात्मिक ज्ञान के जिज्ञासु साधक को ये तत्त्वदर्शी सदगुरू ब्रह्म विषयक ज्ञान का उपदेश देते है। इस ब्रह्म विषयक ज्ञान के श्रवण, मनन और निदिध्यासन द्वारा शिष्य के समस्त संशयों का निराकरण हो जाता है। यहाँ श्रवण से तात्पर्य ब्रह्मविषयक ज्ञान को तत्त्वदर्शी गुरूओं से सुनने से है। सुने हुए ज्ञान का तर्कपूर्वक चिन्तन करना मनन कहलाता हें और उसका निरन्तर ध्यान करना निदिध्यासन कहलाता है। इस प्रकार ब्रह्म ज्ञान के सतत् अभ्यास से साधक समस्त संशयों का निराकरण होकर उसे ब्रह्मज्ञान साक्षात अनुभूति होती है।

ज्ञान प्राप्ति हेतु योग्यताएँ– गीता में भगवान श्रीकृष्ण इस ब्रह्म विषयक ज्ञान की प्राप्ति हेतु साधक की कुछ योग्यताओं का वर्णन करते हैं। ये योग्यताएँ ब्रह्मज्ञान प्राप्ति का प्रमुख साधन हैं। भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं–''श्रद्धावान, जितेन्द्रिय और साधना में तत्पर व्यक्ति ज्ञान को प्राप्त करता है। ज्ञान प्राप्त करके वह तत्काल ही परमशान्ति को प्राप्त हो जाता है।''

श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।
ज्ञान लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति।।

(4/39)

1. ज्ञान के जिज्ञासु की प्रथम योग्यता उसका श्रद्धावान होना है। गुरू एवं शास्त्रों के वचनों के प्रति निष्ठा को ही श्रद्धा कहते हैं। श्रद्धा आध्यात्मिक ज्ञान की प्राप्ति का प्रमुख साधन है। गुरू के वचनों और शास्त्रों की आज्ञाओं में श्रद्धा रखने वाला मनुष्य शीघ्र अपने मन को ईश्वर पर केन्द्रित कर लेता है। जो ईश्वर में अटूट श्रद्धा रखता हें, वह शीघ्र ईश्वर के साथ अपना आत्मीय सम्बन्ध स्थापित कर लेता हें और ईश्वर में तन्मयता की अनुभूति करता है। अतः श्रद्धा ज्ञान प्राप्ति का प्रमुख साधन है।
2. ज्ञान प्राप्ति की दूसरी महत्वपूर्ण योग्यता तत्परता है। ज्ञान प्राप्ति के लिये साधना के प्रति निष्ठा एवं लग्नशीलता ही तत्परता कहलाती है। श्रद्धा है लेकिन तत्परता नहीं हो तो साधना या ज्ञान प्राप्ति में सफलता नहीं मिलती। ज्ञान प्राप्ति के लिये आलस्य व प्रमाद को त्यागकर निरन्तर उत्साह के साथ प्रयत्नशील होना आवश्यक है।
3. ज्ञान प्राप्ति का तीसरी महत्वपूर्ण योग्यता इन्द्रियों का संयम है। ज्ञान प्राप्ति के लिये साधक का अन्तर्मुखी होना आवश्यक है। इन्द्रियो पर उचित संयम के द्वारा साधक अन्तर्मुखी होकर आत्मतत्व का चिन्तन, मनन और ध्यान कर सकता है। इन्द्रिय संयम के द्वारा ही चित्त को ईश्वर में एकाग्र किया जा सकता है। मन की शान्ति के लिये इन्द्रियों का संयम अत्यावश्यक है।

ब्रह्मज्ञान या आत्मज्ञान का प्रभाव– तत्त्वदर्शी सदगुरूओं से प्राप्त ब्रह्म ज्ञान के निम्नलिखित प्रभाव परिलक्षित होते हैं–

1. ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति के पश्चात साधक का मोह हमेशा के लिये नष्ट हो जाता है। ज्ञान प्राप्ति के पश्चात वह कभी मोह के विकारों से ग्रस्त नहीं होता। मोह ऐसे ज्ञानी व्यक्ति को कभी प्रभावित नहीं कर सकता।
2. ब्रह्मज्ञान की अनुभूति के पश्चात साधक समस्त प्राणियों को अपनी आत्मा में और आत्मा को समस्त प्राणियों मे अनुभव करता है। उसे यह साक्षात अनुभव हो जाता हें कि एक ही परमतत्व ब्रह्म का प्रकाश सभी प्राणियों में आत्मतत्व के रूप में प्रकाशित हो रहा है।
3. ब्रह्मज्ञान की साक्षात अनुभूति से साधक की समस्त अशुभ वृत्तियों का अन्त हो जाता हैं। वह सभी पाप वृत्तियों से परे चला जाता है। उसमें समस्त प्राणियों के प्रति करूणा का उदय हो जाता है। वह किसी से घृणा नहीं करता है।
4. ब्रह्मज्ञान के पश्चात समस्त शुभ अशुभ कर्मो के फल नष्ट हो जाते हैं। जिस प्रकार प्रज्वलित अग्नि ईधन को जलाकर भस्म कर देती है। उसी प्रकार ज्ञान रूपी अग्नि समस्त कर्मों को समाप्त कर देती है।

भक्तियोग की अवधारणा– गीता में ईश्वर साक्षात्कार के लिये भक्तियोग को सर्वसुलभ एवं श्रेष्ठ साधन माना गया है। भक्ति शब्द की उत्पति 'भज' धातु से हुई है। 'भज' का अर्थ हें– सेवा या उपासना। समर्पित भाव से ईश्वरीय उपासना को भक्ति कहते हैं। जब भक्ति के द्वारा आत्मा का परमात्मा से संयोग होता है, तो उसे भक्तियोग कहते हैं। भक्ति को नारद मुनि 'अतिशय प्रेम' की संज्ञा देते हैं। यह ईश्वर के प्रति अटूट विश्वास, श्रद्धा, अतिशय प्रेम और पूर्ण आत्मसमर्पण का भाव होता है। ईश्वर का स्मरण, चिन्तन, मनन और कीर्तन भक्ति के क्रियात्मक पक्ष है। ईश्वर के प्रति समर्पित भाव से कर्म करने पर और निरन्तर ईश्वर का चिन्तन करने से साधक को ब्रह्मभाव की अनुभूति होती है। गीता में भगवान श्रीकृष्ण कहतें हैं–''जो मेरे परायण होकर सम्पूर्ण कर्मो को मुझ मे अर्पण करके मुझ सगुणरूप परमेश्वर को अनन्य भक्तियोग से निरन्तर चिन्तन करते हुए भजते हैं। हे अर्जुन! उन मुझमें चित्त लगाने वाले प्रिय भक्तजनों को मैं शीघ्र ही मृत्युरूप संसार सागर से उद्धार करता हूँ।''

ईश्वर के प्रति पूर्ण समर्पण हेतु आवश्यक है कि मनुष्य अपने मन और बुद्धि को परमात्मा में एकाग्र करे। चित्त की एकाग्रता हेतु निरन्तर अभ्यास योग की सहायता लेनी चाहिए, जिसमें भगवद् प्राप्ति सुगम हो जाती है। यदि मन की बहिर्मुखी

प्रवृत्तियों के कारण जब अभ्यास भी कठिन प्रतीत होने लगे, तब समस्त कर्त्तव्य कर्मो को परमात्मा को समर्पित करने चाहिये। यदि मनुष्य यह करने में भी असमर्थ हो तो मन–बुद्धि पर विजय प्राप्त कर समस्त कर्त्तव्य कर्मो में कर्मफल का परित्याग कर दे, क्योंकि कर्मफल के त्याग से तत्काल परमशान्ति प्राप्त होती है। गीता में भगवान श्रीकृष्ण के मतानुसार–''मर्म को न जानकर किये हुए अभ्यास से ज्ञान श्रेष्ठ है। ज्ञान से मुझ परमेश्वर का ध्यान श्रेष्ठ है और ध्यान से भी सब कर्मो के फल का त्याग श्रेष्ठ हैं क्योंकि त्याग से तत्काल ही परमशान्ति प्राप्त होती है।

शुभ और अशुभ दोनों ही प्रकार के कर्म बन्धन का कारण है। परम लक्ष्य मोक्ष की प्राप्ति हेतु शुभ और अशुभ दोनों प्रकार के कर्मफलों से मुक्त होना आवश्यक है। भगवत समर्पित बुद्धि से युक्त होकर समत्व भाव से कर्म करने पर कर्म हमें बन्धन ग्रस्त नही करते हैं। जो कुछ गीता में भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं–''हे अर्जुन! तू जो भी कर्म करता है, जो कुछ भी खाता हें, जो कुछ भी हवन करता हें, जो कुछ भी दान देता है अथवा तप करता हैं, वह सभी कर्म मुझे अर्पित कर दे।'' इन कर्मो के किसी प्रकार की फलाशक्ति और कर्तव्य का अहंकार मत रख। इस प्रकार संन्यास योग से युक्त होने पर तू परमात्मा को प्राप्त होगा। ''गीता में भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं– जो ब्रह्म को आश्रय या आधार मानकर आशक्ति का त्याग करते हुए कर्त्तव्य कर्म करता है वह जल में कमलपत्र के समान पाप से लिप्त नहीं होता।''

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि संग त्यक्त्वा करोति यः ।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा ।। (5/10)

गीता में चार प्रकार के भक्त– गीता में भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं कि चार प्रकार से मुझे भजते हैं–अर्थार्थी, आर्त, जिज्ञासु और ज्ञानी। सांसारिक पदार्थो के लिए भजने वाले भक्तजन अर्थार्थी, संकट निवारण हेतु भजने वाले भक्तजन आर्त, ईश्वर के यथार्थरूप से जानने की इच्छा से भजने वाले भक्तजन जिज्ञासु कहलाते हैं। ज्ञानी के विषय में भगवान कहते हैं– ''इनमें से नित्य मुझमें एकीभाव से स्थित अनन्य प्रेमभक्ति वाला ज्ञानी अति उत्तम हें, क्योंकि मुझको तत्व से जानने वाले ज्ञानी को मैं अत्यन्त प्रिय हूँ और वह ज्ञानी मुझे अत्यन्त प्रिय है।'' गीता में गहन व्यक्तिगत सम्बन्ध की अध्यात्म चेतना से युक्त जिस ईश्वर का वर्णन हैं, वह विभूतिमान पुरूषोत्तम ही नहीं अपितु वह मानव हित हेतु युग युग में अवतरित होता है। ईश्वर सुख दुःख का सच्चा साथी हैं और वह संकट के समय अपने भक्त का शरणागत है। ईश्वर इस जगत का परमगुरू है। ईश्वर अपनी शरण में आये भक्त जनों के सम्पूर्ण योग क्षेम का वहन करता है।

ईश्वर के अनुग्रह से मनुष्य सभी संकटो से मुक्त हो जाता है। गीता में भगवान श्रीकृष्ण के मतानुसार मनुष्य चाहे कितना भी दुराचारी क्यों न हो यदि वह अनन्य भाव से ईश्वर को भजता है तो उसे साधु ही समझना चाहिए। ईश्वर के प्रति शरणागति से उसकी बुद्धि निश्चय शुभ हो जाती है। वह शीघ्र अपने बुरे संस्कारों को त्यागकर धर्मात्मा हो जाता है और परम शान्ति को प्राप्त होता है। भगवान श्रीकृष्ण गीता में यह विश्वास दिलाते हैं कि ईश्वर के भक्त का कभी नाश नहीं होता। ईश्वर की प्राप्ति के लिए किया गया थोडा सा प्रयत्न भी व्यर्थ नहीं जाता। ईश्वर शरणागतवत्सल हैं। जब भक्त सभी धर्मो का परित्याग कर ईश्वर की शरण में जाता हें तो वह निश्चय ही ईश्वर को प्राप्त हो जाता हैं। गीता में भगवान श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं कि ''सभी धर्मों का त्याग करके मेरी शरण में आ जा शोक मत करों। मैं तुम्हे सभी पापो से मुक्त कर दूँगा।''

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः।।
(18/66)

कृष्ण गीता में पुनः कहते हैं– हे अर्जुन! तू मुझमें ही निरन्तर मन लगा, मेरा भजन कर, कर्मो को समर्पित कर, मेरी सेवा कर, अपनी आत्मा को मुझमें प्रतिष्ठित करके अनन्यभाव से मेरी शरण में आ जाओ, इस प्रकार तू मुझे ही प्राप्त करेगा–

मन्मना भव मद्भक्तों मद्याजी मा नमस्करू।
मामेवैष्यसि युक्त्यैवमात्मान मत्परायणः।। (6/34)

गीता में वर्णित अनन्य भक्तिभाव से युक्त भक्तियोग ईश्वर साक्षात्कार का सहज, सरल और सर्वसुलभ साधना मार्ग है।

गीता में मानवीय जीवन के चरम लक्ष्य ब्रह्म साक्षात्कार या आत्मसाक्षात्कार के लिए कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग को साधना के प्रमुख साधनों के रूप में स्वीकार किया गया है। गीता मे साधना के इन विभिन्न मार्गो का उल्लेख मानवीय स्वभाव या प्रकृति के आधार पर किया गया है। प्रत्येक मनुष्य में तीन प्रकार की शक्तियाँ होती हैं। ज्ञानात्मक शक्ति, भावनात्मक शक्ति और क्रियात्मक शक्ति । ज्ञानात्मक शक्ति के द्वारा मनुष्य चिन्तन–मनन करता है। भावनात्मक शक्ति के द्वारा वह अपने स्नेह या प्रेम को अभिव्यक्त करता है और क्रियात्मक शक्ति के द्वारा कर्मों का सम्पादन करता है। प्रत्येक मनुष्य मे इन तीन शक्तियों में से किसी एक की प्रधानता होती है। जिसमें चिन्तन मनन तर्क शक्ति प्रधान है, वह ज्ञान का पथ चुनता है। जिसमें भावनात्मक शक्ति की प्रधानता है, वह प्रेम का पथ अपनाता है और जिसमे क्रिया शक्ति की प्रधानता होती है, वह कर्मपथ को चुनता है। जब हम इन तीनों शक्तियों को ईश्वर की ओर अभिमुख करते हैं तो प्रथम ज्ञानयोगी, दूसरा भक्तियोगी और तीसरा कर्मयोगी कहलाता है। गीता में ज्ञान, भक्ति और कर्म के समन्वय के द्वारा मनुष्य के समक्ष विभिन्न साधना मार्ग प्रस्तुत किये गये हैं। प्रत्येक मनुष्य अपनी रूची और योग्यता के अनुरूप इनमें से कोई भी साधना मार्ग अपनाकर जीवन के चरम लक्ष्य को अनुभव कर सकता है।

अभ्यास के लिए प्रश्न

बहुविकल्पात्मक प्रश्न –

1. आदिगुरू शंकराचार्य ने कुल कितने उपनिषदों पर भाष्य लिखा है ?
   (अ) दस (ब) ग्यारह (स) छः (द) नौ
2. उपनिषद् शब्द में मूल धातु सद् का क्या अर्थ हें ?
   (अ) निकट (ब) निष्ठापूर्वक
   (स) बैठना (द) श्रद्धा
3. जाग्रत अवस्था मे आत्मा को कहते हैं ?
   (अ) प्राज्ञ (ब) तैजस
   (स) वैश्वानर (द) ब्रह्म
4. उपनिषदों के अनुसार आत्मा और ब्रह्म के माध्य कौन सा सम्बन्ध पाया जाता है ?
   (अ) समवाय (ब) संयोग
   (स) तादात्म्य (द) वियोग
5. उपनिषद् में निर्गुण ब्रह्म को कहा गया है ?
   (अ) अपर ब्रह्म (ब) पर ब्रह्म
   (स) साकार ब्रह्म (द) प्राण ब्रह्म
6. माण्डूक्योपनिषद् के अनुसार आत्मा कुल अवस्थाएँ हैं ?
   (अ) चार (ब) पाँच (स) छः (द) तीन
7. गीता महाभारत के कौन से पर्व का भाग हैं ?
   (अ) कर्ण (ब) भीष्म–पर्व
   (स) सभा पर्व (द) आदि पर्व
8. गीता का प्रथम अंग्रेजी अनुवाद किसने किया ?
   (अ) चार्ल्स विल्किन्स (ब) चार्ल्स सेवियर
   (स) वाटेन हेस्टिंग्स (द) मैक्स मूलर
9. कांकॉर्ड आन्दोलन के प्रवर्तक कौन हैं ?
   (अ) इमर्सन (ब) कार्लायल
   (स) मैक्स मूलर (द) विल्सन
10. गीता रहस्य पुस्तक के लेखक कौन है ?
    (अ) आदिगुरू शंकराचार्य (ब) बाल गंगाधर तिलक
    (स) अरविन्द (द) विनोबा भावे
11. गीता पर प्रथम भाष्य किसने लिखा ?
    (अ) आदिगुरू शंकराचार्य (ब) रामानुजाचार्य
    (स) मध्वाचार्य (द) बल्लभाचार्य
12. गीता को व्यावहारिक वेदान्त का सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ किसने कहा है ?
    (अ) बालगंगाधर तिलक (ब) महात्मा गांधी
    (स) स्वामी विवेकानन्द (द) महर्षि अरविन्द

अतिलघुतरात्मक प्रश्न–

1. उपनिषद् शब्द का अर्थ स्पष्ट कीजिए ?
2. उपनिषदों को वेदान्त क्यों कहते हैं ?
3. शंकराचार्य के मतानुसार उपनिषदों का प्रमुख और गौण अर्थ क्या है ?
4. ग्यारह उपनिषदों के नाम बताइए ?
5. ब्रह्म शब्द की व्याख्या कीजिए ?
6. ब्रह्म के स्वरूप को स्पष्ट कीजिए ?
7. आत्मा की चार अवस्थाओं को स्पष्ट कीजिए ?
8. आत्मा की तुरीय अवस्था को स्पष्ट कीजिए ?
9. गीता शब्द के अर्थ को स्पष्ट कीजिए ?
10. कर्मयोग किसे कहते हैं ?
11. ज्ञानयोग का मुख्य लक्ष्य क्या है ?
12. भक्तियोग किसे कहते हैं ?

लघुत्तरात्मक प्रश्न–

1. उपनिषद् शब्द की व्याख्या कीजिए ?
2. निर्गुण ब्रह्म की अवधारणा को स्पष्ट कीजिए ?
3. ब्रह्म के स्वरूप की व्याख्या कीजिए ?
4. जीवात्मा के स्वरूप का विवेचन कीजिए ?
5. परब्रह्म और अपरब्रह्म की अवधारणा स्पष्ट कीजिए ?
6. गीता का मुख्य उद्देश्य क्या हैं, स्पष्ट कीजिए ?
7. गीता के ज्ञानयोग के स्वरूप को स्पष्ट कीजिए ?
8. ज्ञान की प्रमुख योग्यताओं का उल्लेख कीजिए ?
9. भक्तियोग की व्याख्या कीजिए ?
10. कर्मयोग की अवधारणा को स्पष्ट कीजिए ?

निबन्धात्मक प्रश्न–

1. उपनिषदों में ब्रह्म की अवधारणा की विस्तृत व्याख्या कीजिए?
2. उपनिषदों में जीवात्मा के स्वरूप की व्याख्या कीजिए ?
3. गीता में कर्मयोग की अवधारणा की विस्तृत व्याख्या कीजिए?
4. गीता में भक्तियोग और ज्ञानयोग की अवधारण को स्पष्ट कीजिए ?

बहुविकल्पात्मक प्रश्नों के उत्तर –

1. (ब) 2. (स) 3. (स) 4. (स) 5. (ब) 6. (अ)
7. (ब) 8. (अ) 9. (अ) 10. (ब) 11. (अ) 12. (स)